☐ श्रीमती निरूपमादेवी खण्डेलवाल, एम० ए० (हिन्दी साहित्य)
[लिखिका तथा रेडियो वार्ताकार]

जैन-संस्कृति में संगीत का स्थान

☐

संगीत शब्द की व्युत्पत्ति

'संगीत' शब्द 'गीत' में 'सम्' उपसर्ग लगाकर बना है, जिसका अर्थ होता है गीतसहित। नृत्य और वादन के साथ किया गया गीत संगीत कहलाता है।

संगीत के आदिप्रवर्तक तीर्थङ्कर ऋषभदेव

जैन संस्कृति और वाङ्मय में बहुत प्राचीनकाल से ही संगीतकला का महत्त्वपूर्ण स्थान रहा है। जैन परम्परा उसे अनादि-निधन मानती है। जैन साहित्य में कर्मयुग के आदि विधाता प्रजापति ऋषभदेव ने सर्वप्रथम अपने पुत्र वृषभसेन को संगीत की शिक्षा दी। आचार्य जिनसेन ने आदिपुराण में लिखा है—

'विभुर्वृषभसेनाय गीतवाद्यार्थ संग्रहम्।
गन्धर्वशास्त्रमाचख्यौ यत्राध्यायाः परः शतम् ॥'

'मनुकुलतिलक ऋषभदेव ने अपने पुत्र वृषभसेन को गीत, वाद्य तथा गान्धर्व विद्या का उपदेश दिया, जिस शास्त्र के सौ अध्याय से ऊपर हैं।'

ऋषभदेव अलौकिक ज्ञान और बुद्धि के स्वामी थे। उन्हीं से अंक और अक्षर कला प्रकट हुई और उन्होंने प्रजा को असि, मसि, कृषि, विद्या, वाणिज्य और शिल्प का उपदेश तथा शिक्षण दिया। संगीतोपनिषद्सारोद्धार में बताया है कि तूर्य, वाद्य और नाटक की उत्पत्ति ऋषभपुत्र चक्रवर्ती भरत की नव-निधियों में से अन्तिम शंख से हुई थी। संगीत की निष्पत्ति हर से हुई और यहाँ हर का आशय ऋषभदेव है। पापों का नाश करने के कारण वे 'हर' कहलाते हैं। शिवपद (मोक्ष) के प्रदाता होने के कारण वे शिव भी कहलाते हैं।

संगीत के आचार्य

मतंग नामक आचार्य का 'बृहद्देशी' ग्रन्थ प्रथम बार राग का उल्लेख करता है। इनका समय ईसवी की चौथी-पाँचवीं शताब्दी है।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

'संगीत समयसार' आचार्य पार्श्वदेव का दसवीं शती ईसवी का ग्रन्थ माना जाता है। इसमें संगीत का शास्त्रीय ढंग से संस्कृत की कारिकाओं में प्रामाणिक वर्णन मिलता है। इसमें संगीत की शुद्ध पद्धति का विवेचन हुआ है। यथा—

प्रबन्धा यत्र गीयन्ते, वाद्यन्ते च यथाक्षरम्।
यथाक्षरं च नृत्यन्ते, सा चित्रा शुद्धपद्धतिः॥ ७।२३०

'जहाँ प्रबन्धकाव्यों का गायन किया जाता हो, उनके अक्षरों के अनुसार ही वाद्य बजाये जाते हों और उन्हीं के अनुसार नृत्य होता हो, वह चित्रपद्धति कही जाती है और वही पद्धति शुद्ध है।'

संगीत में 'गीत' प्रमुख है, वाद्य और नृत्य सहायक हैं। वाद्य संगीत का और नृत्य वाद्य का अनुसरण करता है। तीनों मिलकर जिस लय को जन्म देते हैं वह 'श्रोत्रनेत्र महोत्सवाय' होती है। उसमें श्रोत्रनेत्र एक महोत्सव में डूब जाते हैं। आचार्य पार्श्वदेव ने संगीत की परिभाषा में गीत, वाद्य और नृत्य तीनों का समावेश किया है। 'संगीत रत्नाकार' में तो स्पष्ट लिखा है—

गीतं वाद्यं तथा नृत्यं त्रयं संगीतमुच्यते।

वराहोपनिषद् में भी संगीत में गीत, वाद्य तथा नृत्य की अन्विति मानते हुए लिखा है—

संगीततालालयवाद्यवशं गतापि मौलिस्थकुम्भपरिरक्षणधीर्नटीव।

महाकवि कालिदास ने भी 'मेघदूत' नामक गीतिकाव्य में गीत, वाद्य तथा नृत्य तीनों को संगीतार्थ के उपादानों के रूप में प्रस्तुत किया है।

नाद

संगीत का माध्यम नाद है। संगीत समयसार के अनुसार नाद से सम्पूर्ण वाङ्मय—वाग्-विस्तार की उत्पत्ति होती है। कण्ठ आदि भेद से जो नाद स्फुट रूप से स्फुरित होता है, उसी को तद्-विज्ञ (नाद-पण्डित) आरोही क्रम से 'ध्वनि' कहते हैं—

कण्ठादिस्थान भेदेन् यो नादः स्फुरति स्फुटम्।
आरोहिक्रमतस्तज्ज्ञैः स एव ध्वनिरुच्यते॥

संगीत भक्तिरस का सहायक है। 'सागारधर्मामृत' में जिन-भक्ति में संगीत को श्रेष्ठ साधन बताया गया है—

एकैवास्तु जिनेभक्तिः किमन्यैः स्वेष्टसाधनैः।
या दोग्धि कामनुच्छिद्य सद्योऽपाया नशेषतः॥

संगीत और भक्ति का घनिष्ठ सम्बन्ध स्वतःसिद्ध है। संगीत के योग से भक्तिभाव में तीव्रता आती है, लालित्य की वृद्धि होती है और हृदय द्रवित होकर तदाकार वृत्ति में स्थित हो जाता है। आत्मा में शान्ति का स्रोत उत्पन्न करने में संगीत अत्यन्त महत्वपूर्ण है।

संगीत हृदय का उच्छ्वास है। मानव की भव्य भावनाओं की सहज, सरल एवं मधुर अभिव्यक्ति है। संगीत जीवन की वह कमनीय कला है, जिसके अभाव में जीवन नीरस है। भर्तृहरि ने संगीतकला से अनभिज्ञ मनुष्य को पशु की संज्ञा प्रदान की है—

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

साहित्य-संगीत कला विहीनः ।
साक्षात् पशुः पुच्छविषाणहीनः ।।—नीतिशतक

महात्मा गाँधी का कथन है कि 'संगीत के बिना तो सारी शिक्षा अधूरी लगती है, चौदह विद्याओं में संगीत एक प्रमुख विद्या मानी गई है । संगीत में जितनी सहजता, सरलता एवं मधुरता है, उतनी अन्य कलाओं में नहीं है । माधुर्य ही संगीत-कला का प्राण है जो जादू की तरह अपना प्रत्यक्ष प्रभाव दिखलाता है । संगीत का सौन्दर्य श्रवण की मधुरता में है । श्रीकृष्ण ने नारद जी से कहा है—

नाहं वसामि वैकुण्ठे, योगिनां हृदये न च ।
मद्भक्ता यत्र गायन्ति, तत्र तिष्ठामि नारद ।।

'मेरा निवास वैकुण्ठ में नहीं है और न मैं योगियों के हृदय में भी रहता हूँ । हे नारद ! मैं तो वहाँ रहता हूँ जहाँ पर मेरे भक्त तन्मय होकर सुमधुर स्वरलहरी से गाते हैं ।'

संगीत की मधुर स्वरलहरी भाषा को भी द्रवित करने में प्रथम है । संगीत हृदय की वह भाषा है जो राग-रागिनियों के माध्यम से व्यक्त होती है । इसका मूल आधार राग है । जम्बूद्वीपप्रज्ञप्ति की टीका में आचार्य विमलगिरि ने 'पद-स्वर-तालवधनात्मक गान्धर्व को गीत कहा है ।' गीत शब्द से पूर्व 'सम्' उपसर्ग लगने से संगीत शब्द बना है, जिसका अर्थ सम्यक् प्रकार से लय, ताल और स्वर आदि के नियमों के अनुसार पद्य का गायन है । राग की परिभाषा सभी मूर्धन्य मनीषियों ने प्रायः एक ही प्रकार की है कि 'जो ध्वनि विशेष स्वर, वर्ण से विभूषित हो, जनचित्त को अनुरञ्जन करने वाली हो, वह राग' है ।'

धर्म और संगीत

संगीत मानव के चंचल मन को कीलित करने का एक सुन्दर साधन है । आठ रस मन को और अधिक चंचल बनाने वाले हैं । एक भक्तिरस जिसका स्थायीभाव अनुराग है, जो शान्तरस के निर्वेद नामक स्थायीभाव पर निर्भर है, शान्ति प्रदान करने वाला है । वीतराग भगवान के चिन्तन में संगीत, गायन के द्वारा हम अपने में वीतराग भाव उत्पन्न करने का प्रयत्न करते हैं ।

इस प्रकार श्रमण-संस्कृति में संगीत का विशेष महत्व सिद्ध होता है ।

जैनागमों में संगीत

जैन कला एवं दर्शन के मूल स्रोत 'आगम' हैं । इनमें 'गीत' शब्द का विभिन्न दृष्टि से निरूपण हुआ है । यह निरूपण कहीं कला की दृष्टि से है, कहीं विषय प्रतिपादन की दृष्टि से और कभी प्रभाव की दृष्टि से । प्रभाव की दृष्टि से इसका विवेचन विरक्ति के प्रसंग में हुआ है । जिन प्रमुख आगम ग्रन्थों में 'गीत' शब्द की व्युत्पत्ति एवं विवेचन मिलता है, वे ये हैं—जम्बूद्वीपप्रज्ञप्ति, प्रश्नव्याकरण, जीवाभिगम, ज्ञातृधर्मकथा, समवायाङ्ग, बृहत्कल्प, स्थानाङ्ग और अनुयोगद्वार ।

कल्पसूत्र के अनुसार भगवान् श्री ऋषभदेव ने प्रजा के हितार्थ, अभ्युदयार्थ एवं जन-जीवन में सुख और शान्ति के संचारार्थ कलाओं का उपदेश दिया । जम्बूद्वीपप्रज्ञप्ति के अनुसार उन कलाओं में

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

बहत्तर कलाएँ पुरुष के लिये तथा चौसठ स्त्रियों के लिए थीं। उनमें पुरुष कलाओं में गीत का पाँचवां स्थान है और स्त्री-कलाओं में ग्यारहवाँ। ज्ञातृधर्मकथा में मेघकुमार का वर्णन करते हुए उसका विशेषण 'गीतरतिगांधर्वनाट्य कुशल' दिया है। दशाश्रुतस्कन्ध में भोगकुल और उग्रकुल के पुत्रों का वर्णन करते हुए लिखा है कि वे नाट्य, गीत, वादित्र, तंत्री, ताल, त्रुटित, घन, मृदंग आदि वाद्य यन्त्रों से युक्त थे।

आभिजात्य और सामान्य दोनों ही वर्गों में समान रूप से संगीत प्रचलित था। उत्तराध्ययन के अनुसार चित्र और सम्भूत नामक मातंग पुत्र तिसरय, वेणु और वीणा को बजाते हुए नगर से निकलते थे तो लोग उनके गायन-वादन पर मुग्ध हो जाते थे। कौमुदी एवं इन्द्र महोत्सव पर भी संगीत का आयोजन किया जाता था। राज उदयन के अलौकिक संगीत नैपुण्य की चर्चा आवश्यकचूर्णि में मिलती है। उसने एक बार मदोन्मत्त बने हुए हाथी को संगीत के द्वारा वश में कर लिया था। सिन्धु-सौवीर के राजा उद्रायण भी संगीत-कला में निपुण थे और स्वयं वीणा बजाते थे। आवश्यकचूर्णि के अनुसार उनकी रानी सरसों के ढेर पर नृत्य करती थी। स्थानाङ्ग में काव्य के चार प्रकारों में संगीत की गणना की गई है। काव्य के चार प्रकार ये हैं—वाद्य, नाट्य, गेय और अभिनय। उसमें वीणा, ताल, तालसय और वादित्र को मुख्य स्थान दिया है। नाट्यशास्त्र के रचयिता आचार्य भरत ने भी नाट्य में संगीत का महत्व प्रतिपादित किया है—

सर्वेषामेव लोकानां, दुःखशोक विनाशनम्।
यस्मात्संदृश्यते गीतं, सुखदं व्यसनेष्वपि॥

अर्थात् 'संगीत संसार के सभी प्राणियों के दुःख, शोक का नाशक है और आपत्तिकाल में भी सुख देने वाला है।'

गीत के प्रमुख प्रकार

समवायाङ्ग और स्थानाङ्ग में गीत के तीन प्रकार माने हैं, किन्तु जम्बूद्वीपप्रज्ञप्ति में उसके चार प्रकार बताये हैं। स्थानाङ्ग में कथन है कि सात स्वर हैं और वे नाभि से समुत्पन्न होते हैं और शब्द ही उनका मूल स्थान है। छन्द के प्रत्येक चरण में उच्छ्वास ग्रहण किये जाते हैं और गीत के तीन प्रकार हैं—गीत प्रारम्भ में मृदु होता है, मध्य में तीव्र और अन्त में पुनः मन्द होता है। गीत के छह दोष इस प्रकार हैं (१) **भीतं**—भयभीत मन से गायन। (२) **द्रुतं**—जल्दी-जल्दी गायन। (३) **अपित्थं**—श्वास-युक्त शीघ्र गाना अथवा ह्रस्व स्वर तथा लघुस्वर से गायन। (४) **उत्तालं**—अति उत्ताल स्वर तथा अवस्थान ताल से गायन। (५) **काक-स्वर**—कौए की तरह कर्ण-कटु शब्दों से गायन, तथा (६) **अनुनासिकम्**—अनुनासिका से गायन।

गीत के गुण

स्थानाङ्ग में गीत के आठ गुण बताये हैं—

पुन्नं रत्तं च अलंकियं च वत्तं तहा अविघुट्ठं।
मधुरं समं सुकुमारं, अट्ठगुणा होंति गेयस्स॥ ७/३/२४

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

(१) पूर्ण—स्वर, लय और कला से युक्त गायन।
(२) रक्त—पूर्ण तल्लीनतापूर्वक गायन।
(३) अलंकृत—स्वर विशेष से अलंकृत गायन।
(४) व्यक्त—स्पष्ट रूप से गायन, जिससे स्वर और अक्षर स्पष्ट ज्ञात हो सकें।
(५) अविघुष्ट—अविपरीत स्वर से गायन।
(६) मधुर—कोकिल जैसा मधुर गायन।
(७) सम—तालवंश तथा स्वर से समत्व गायन।
(८) सुललित—कोमल स्वर से गायन।

स्थानाङ्ग में संगीत-कला के आठ अन्य गुण भी बतलाये गये हैं, यथा—

'उरकंठ सिरपसत्थं च, गेज्जं ते मउरिभिअपदबद्धं।
समतालपडुक्खेवं सत्तसर सीहरं गीयं ।। ७/३/२५

अर्थात् 'उरोविशुद्ध, कण्ठविशुद्ध, शिरोविशुद्ध, मृदुक, रिङ्गित, पदबद्ध, समताल और सप्तस्वर-सीभर—ये आठ गुण गायन में होते हैं।

अनुयोगद्वार के अनुसार अक्षरादि सम सात प्रकार के होते हैं, यथा—अक्षरसम, पदसम, तालसम, लय सम, ग्रहसम, निश्वसितोच्छ्वसितसम, संचारसम।

स्थानाङ्ग में गेयगीत के अन्य आठ गुण इस प्रकार बताये हैं—

निद्दोसं सारवंतं च हेउजुत्तमलंकियं।
उवणीय सोवयारं च, मियं मधुरमेव य ।।

अर्थात् 'निर्दोष, सारवन्त, हेतुयुक्त, अलंकृत, उपनीत, सोपचार, मित और मधुर।'

स्थानाङ्ग में सप्तस्वरों का सुन्दर विवेचन मिलता है। ये सप्तस्वर इस प्रकार हैं—

(१) षड्ज—जो नासिका, कण्ठ, छाती, तालु, जिह्वा और दाँत इन छह स्थानों से उत्पन्न होता है।
(२) वृषभ—जब वायु नाभि से उत्पन्न होकर कण्ठ और मूर्धा से टक्कर खाकर वृषभ के शब्द की तरह निकलता है।
(३) गांधार—जब वायु नाभि से उत्पन्न होकर हृदय और कण्ठ को स्पर्श करता हुआ सगन्ध निकलता है।
(४) मध्यम—जो शब्द नाभि से उत्पन्न होकर हृदय से टक्कर खाकर पुनः नाभि में पहुँच जाता है अर्थात् अन्दर ही अन्दर गूंजता रहता है।
(५) पञ्चम—नाभि, हृदय, छाती, कण्ठ और सिर, इन पाँच स्थानों से उत्पन्न होने वाला स्वर।
(६) धैवत—अन्य सभी स्वरों का जिसमें सम्मिश्रण हो, इसका अपर नाम रैवत है।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

(७) निषाद—जो स्वर अपने तेज से अन्य स्वरों को दबा देता है और जिसका देवता सूर्य हो।

स्थानांग अभयदेव वृत्ति में इन सप्तस्वरों की व्याख्या संस्कृत श्लोकों में की गई है। स्थानांग में स्वर परिज्ञान भी है यथा—मयूर षड्जस्वर में आलापता है, कुक्कुट ऋषभ स्वर में बोलते हैं, हंस के स्वर से गांधार ध्वनि निश्रत होती है। गवेलक के स्वर से मध्यम, कोयल के स्वर से पंचम, सारस और क्रौंच के स्वर से धैवत तथा अंकुश से प्रताड़ित हस्ती की चिंघाड़ से निषाद स्वर परिज्ञात होता है। इसी प्रकार अचेतन पदार्थों से भी सप्तस्वरों का परिज्ञान होता है, यथा ढोल से षड्ज, गोमुखी से वृषभ, शंख से गांधार, झल्लरी से मध्यम, तबले से पंचम, नगाड़े से धैवत और महाभेरी से निषाद स्वर जाना जाता है।

आगमों में इन स्वरों का फल भी बताया गया है। स्थानांग में लिखा है कि जो मानव षड्जस्वर से बोलता है, वह आजीविका प्राप्त करता है। उसके प्रत्येक कार्य सिद्ध होते हैं। उसे गायें, पुत्र तथा मित्र प्राप्त होते हैं तथा वह कान्ताप्रिय होता है। वृषभ स्वर का प्रयोग करने वाला ऐश्वर्य, सेना, सन्तान, धन, वस्त्र, अलंकार आदि प्राप्त करता है। गांधार स्वर से गाने वाला आजीविका के सभी साधन उपलब्ध करता है, तथा अन्य कलाओं का भी ज्ञाता होता। मध्यम स्वर से गाने वाला सुखी जीवन व्यतीत करता है। पञ्चम स्वर से गाने वाला पृथ्वीपति, बहादुर, सग्राहक और गुणज्ञ होता है। रैवत स्वर से गाने वाला दुःखी, प्रकृति का नीच और अनार्य होता है। वह प्रायः शिकारी, तस्कर और मल्ल-युद्ध करने वाला होता है। निषाद स्वर से गाने वाला कलहप्रिय, घुमक्कड़, भारवाही, चोर, गोघातक और आवारा होता है।

स्थानांग में सप्तस्वरों के तीन ग्रामों का विशद वर्णन मिलता है। ये तीन ग्राम इस प्रकार हैं—(१) षड्जग्राम (२) मध्यमग्राम (३) गांधारग्राम। इन तीनों ग्रामों में प्रत्येक में सात-सात मूर्च्छनाएँ होती हैं। इस प्रकार कुल इक्कीस मूर्च्छनाएँ होती हैं।

स्थानांग और अनुयोगद्वार के आधार पर ही पार्श्वदेव ने 'संगीतसार' और सुधाकलश ने 'संगीतोपनिषद्' का निर्माण किया।

इस प्रकार जैनागमों में संगीत का विशद विवेचन मिलता है। जैन संगीत का चरम लक्ष्य मोक्ष-मार्ग है। उसमें त्याग-वैराग्य की भव्य भावना को प्रमुख स्थान दिया गया है। जैन-संगीत धर्मशिक्षा का एक अंग रहा है। भक्ति और अध्यात्म दोनों ही क्षेत्रों में इसका समान महत्व रहा है।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org